



विपश्यना

[साधकों का मासिक प्रेरणापत्र]

रजि. नं. १९१५६/७१

पोस्टल रजि. नं. NSK - 64

वर्ष ८ • बम्बई • बुद्धवर्ष २५२२ • आश्विनी पूर्णिमा [शक] • दि. १५-१०-१९७८ • अंक ४

उदान-कथा

सबसे प्यारा 'मैं'

भगवान गौतमबुद्ध के जीवनकाल की एक घटना-

उन दिनों भगवान कोशल देशकी राजधानी भावस्ती में अनाथ-पिंडक के जेतवन-विहार में वर्षावास कर रहे थे। देशका राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका दोनों ही भगवानके श्रद्धालु उपासक थे। दोनों स्वनिरीक्षण की विपश्यना-साधनाके अभ्यासी थे।



आदमी जब स्व-निरीक्षणका अभ्यासी हो जाता है तो स्व-संबंधी बहुत सी सच्चाइयां उसके सामने उजागर होकर आने लगती हैं। वह स्वानुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। कुदरत के बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। जीवन-जगतकी प्रथम सच्चाई प्रमुख होकर सामने आती है— यह दुःख है। साधक भीतर ही भीतर इस सच्चाई को देखनेका अभ्यास करता है। सामान्य साधक कभी-कभी सचमुच द्रष्टाभावसे देख पाता है, परन्तु बहुधा भोक्ताभावसे भोगने लगता है। यों कपोवेश कभी देखता है, कभी भोगता है। जब देख रहा है तब-तब सम्यक् दर्शन हो रहा है, जब भोग रहा है तब-तब फिर अविद्याके मोह-सागर में गोते खाने लगा है। सम्यक्-दर्शन होने लगा है याने सच्चाई का यथाभूत, यथातथ्य अनुभव होने लगा है। अब जो संकल्प विकल्प होते हैं, चिंतन-मनन होता है वह भी सम्यक् होने लगते हैं। सत्य का यथावत् दर्शन होता है, यथावत् चिंतन होता है। संकल्प-विकल्प के क्षेत्र में भ्रांतियां मिटती हैं। सम्यक् संकल्प और सम्यक्-दर्शन से सम्यक् ज्ञान होने लगता है। जो बात जैसी है वैसी समझ में आने लगती है। जितना-जितना सम्यक् संकल्प और सम्यक्-दर्शन पुष्ट होता है उतना-उतना सम्यक् ज्ञान बढ़ता जाता है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक्-दर्शन से सत्य आर्यसत्य बन जाता है। मासमान सत्य पर से मरीचिकाके पर्दे उतरने लगते हैं। प्रकट सत्य निरावण होते-होते स्पष्ट होते जाता है, परम सत्य बनते जाता है। आर्य-सत्य बनते जाता है। आर्य-सत्य का द्रष्टा भी अनार्य से आर्य बनते जाता है। सम्यक्-संकल्प होता है, सम्यक्-दर्शन होता है, सम्यक् ज्ञान होता है तो सम्यक्-विमुक्ति की ओर कदम-कदम आगे बढ़ता है। सोचता है, देखता है याने अनुभव करता है और समझता है तो भ्रम-भ्रांतियों से विमुक्ति होती जाती है।

धम्म वाणी

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्यं न घातये ॥

धम्मपद १०/२.

दण्ड से सभी त्रस्त होते हैं। जीना सबको प्रिय है। इसे अपने समान जानकर न हत्या करे, न हत्या करने के लिए प्रेरित करे।

दुःख है। जीना दुःख है, व्याधि दुःख है, जरावस्था दुःख है, अप्रिय का संयोग दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है, मनोकामना का पूर्ण न होना दुःख है। सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-दर्शन और सम्यक् ज्ञान और आगे बढ़ता है तो साधक देखता है और समझता है कि अत्यंत गहरे संक्षेप में वास्तविक दुःख क्या है। यह शरीर स्कंध और यह चित्त-स्कंध जिसे अपने बावलेपन में 'मैं' मान रहा हूं और 'मैं' मानकर ही नहीं रह जाता, उसके साथ इतना गहरा उपादान, अभिनिवेश जगा रहा हूं, अरे! मानसके गहनतम धरातल पर सही दुःख तो यही है! 'मैं' के प्रति जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुःख है। एक तो यह नकली 'मैं' तिस पर इससे इतना गहरा चिपकाव! इस 'मैं' के प्रति, 'स्व' के प्रति, 'अहं' के प्रति, 'अपने आपके' प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुःख ही है। जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुःख है।

आसक्तिका दृढ़-मूल आलंबन यह अवास्तविक 'मैं' है। आत्म-आसक्ति ही प्रथम आसक्ति है। सब आसक्तियों की जननी है, सब दुखों की जड़ है। आदमी जब से होश संभालता है तबसे अपने इस 'स्व' की एक मूरत गढ़ने लगता है, एक चित्र आंकने लगता है। स्वयं ही मूर्तिकार, स्वयं ही चित्रकार, स्वयं ही सर्जक। स्वयं ही 'स्व' की मूर्ति गढ़ता है, चित्र बनाता है। स्वयं ही स्रष्टा है— अपने 'स्व' का। स्वयंभू है।

और जब आदमी अपनी मूरत गढ़ता है तो बहुत प्यार से गढ़ता है। बहुत खूबसूरत मूरत गढ़ता है। उसे खूब सजाता है, सँवारता है। इस स्व-निर्मित मूर्ति को अपने मन-मंदिर में स्थापित करता है। अपना सारा प्यार, सारा स्नेह उस पर उड़ेलता है। खूब आशिक हो जाता है, मोहित हो जाता है ... अपनी इस 'मूरत' पर। और इस 'मूरत' को और अधिक निखारनेका, सँवारनेका काम जीवन भर

चलते रहता है। अहंका पोषण जीवनभर होते रहता है। आदमी अपने इस 'अहं' को खूब हृष्ट-पुष्ट करते रहता है। जितना अधिक हृष्ट-पुष्ट करता है, जितना अधिक स्नेह से सजाता और संवारता है, उतना ही अधिक इस 'मूरत' से आसक्त होता जाता है।

उसे इस मूरत से बढ़कर संसार में और कुछ भी, कोई भी प्रिय नहीं लगता। अनन्यभावसे अपना सारा प्यार इस मूरत पर उड़ेलता है। अपने से बढ़कर उसे और कोई प्यरा नहीं लगता। साधक के सामने यह सत्य उजागर होता है।



सत्यदर्शी, आत्मदर्शी राजा प्रेसनजित दिन भरकी प्रशासकीय जिम्मेदारियों को पूरी करके सायंकाल विश्राम के लिए महलकी ऊपरी मंजिल पर रनिवास में आता है। सत्य-दर्शिनी रानी मल्लिका मुस्काराकर उसका स्वागत करती है। सम्राट पूछता है, "मल्लिके! तुझे संसार में तेरे अपने आपसे बढ़कर भी कोई प्रिय है?" दूसरे शब्दों में कहें कि "क्या तू स्व-केंद्रित है? स्वार्थिनी है?"

स्वदर्शिनी रानी सत्यभाषिणी भी है। मुस्काराकर कहती है, "नहीं महाराज! मुझे अपने आपसे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है।" याने "सचमुच मैं स्व-केंद्रित हूं, स्वार्थिनी हूं।" और मुस्कारकर बदले में अपने पतिसे वही प्रश्न करती है... "महाराज! आप बताइए क्या आपको भी अपने आपसे बढ़कर कोई अन्य प्रिय है?" दूसरे शब्दों में "क्या आप भी निपट स्व-केंद्रित हैं? स्वार्थी हैं?"

बात झगड़ेकी सी हुई, चिढ़ानेकी सी हुई। परन्तु राजा प्रेसनजित भी रानी मल्लिका की भांति स्वदर्शी था, सत्यदर्शी था। सत्यदर्शी था तो सत्यभाषी भी था। मुस्काराकर कहता है, "नहीं मल्लिके, मुझे अपने आपसे बढ़कर कोई प्रिय नहीं है।" याने "मैं भी स्वकेंद्रित हूं स्वार्थी हूं,।"

इस सत्य संभाषण से दोनों ही धर्मभाषी प्रसन्न हुए।



सचमुच! अपने आपसे बढ़कर और कोई प्रिय नहीं होता। अपने आपके प्रति गहरा प्यार होता है, गहरी आसक्ति होती है। इसीलिए अपने आपको सुरक्षित रखनेकी चिंता जनमती है। 'स्व' के अनिष्ट का भय जागता है। जहां प्यार है, आसक्ति है, वहां निश्चय ही भय है, आशंका है। अनिष्ट का भय, असुरक्षा की आशंका। चाहता है कि यह अपनापा, यह 'स्व' कायम रहे; अनंतकाल तक कायम रहे। जो भी व्यक्ति, स्थिति, वस्तु, घटना इस "मैं" के प्रति उत्पन्न हुए अनिष्टके भयको, असुरक्षाकी आशंका को दूर करने में सहायक होते हैं, वे प्रिय लगते हैं। जो सहायक नहीं होते वे प्रिय नहीं लगते। और जो इस भय, आशंकाको दूर करने के बजाय बढ़ाते प्रतीत होते हैं वे अप्रिय लगते हैं। वह व्यक्ति कोई भी हो। वह वस्तु, स्थिति, घटना कैसी भी हो।

इस 'मैं' के प्रति, अपने आपके प्रति बड़ा प्यार उमड़ता है तो इसे सदा सुखी रखना चाहता है। इस 'मैं' को सुखी, सुरक्षित रखने के लिए नाना प्रकारकी योजनाएं बनाता है। भविष्य के लिए सुनहरे सपने संजोता है। इस स्वर्णिल चादरके ताने-बाने बड़े मोहक होते हैं

और उनके प्रति बड़ा प्यारा जागता है, बड़ी आसक्ति जागती है। इस ताने-बाने बुनाने में जो-जो सहायक होते हैं, वे बड़े प्रिय लगते हैं। वे कोई भी हों, कैसे भी हों।

तो प्यार अपने स्वप्नों से है, अपनी अभिप्साओं से है, अपनी तृष्णाओं से है और यह स्वप्न, यह अभिप्सा, यह तृष्णा अपने इस 'मैं' के सुरक्षित और सुखी रहने की ही तो है। अतः मूलतः प्यार अपने आपसे है, अपने इस 'मैं' से, अपनी बनाई हुई इस मूरत से है।

आत्मदर्शी, सत्यदर्शी साधक देखता है कि सचमुच उसे कितना गहरा प्यार है इस स्वनिर्मित 'मैं' के प्रति। जब तक कोई इस 'मैं' की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाता, तब तक प्यार 'मैं' से ही करेगा, 'मैं' के स्वप्नों से ही करेगा। 'मैं' और 'मेरे' स्वप्नों के प्रति जो प्यार है वही प्राथमिक है, वही प्रमुख है और सारे प्यार गौण हैं।

सारे पारस्परिक संबंध इस 'मैं' पर ही आधारित हैं, मैं संबंधी स्वप्नों पर ही आधारित हैं। जिनको हमारे स्वप्नोंसे कोई वास्ता नहीं, वे न हमें प्रिय हैं, न अप्रिय। जो-जो स्वप्नका साधक है, वह-वह प्रिय है, जो जो स्वप्न में बाधक है, वह-वह अप्रिय है। जितना-जितना साधक है उतना-उतना प्रिय है। जितना-जितना बाधक है उतना-उतना अप्रिय है। चाहे वह मां हो या बाप, पुत्र हो या पुत्री, भाई हो या बहन, पति हो या पत्नी, गुहरो या शिष्य, अड़ोसी हो या पड़ोसी, छोटा हो या बड़ा, दूरका हो या अदूरका, कोई भी तो फर्क नहीं पड़ता।

दो भाइयों में-प्यार जागता है। वर्षों चलता है। खूब पनपता है। खूब बढ़ता है। लोग समझते हैं बड़ा गहरा प्यार है परस्पर। वे दोनों भी यही समझते हैं। पर नहीं जानते कि प्यार एक-दूसरे से नहीं, अपने आपसे है, अपने स्वप्नों से है। प्यार गहरा होता गया—क्यों कि दोनों के स्वप्न एक जैसे थे। एक का स्वप्न पूरा होता तो दूसरेका भी अपने आप पूरा हो जाता। दोनों के सुख-सुरक्षा के स्वप्न बिल्कुल एक-दूसरे से मेल खाते थे। अतः दोनों अपने-अपने स्वप्न पूरे करने में स्वभावतः एक-दूसरे के सहायक, एक-दूसरे के सहयोगी बने रहे। और यह क्रम वर्षों चला। आधी शताब्दी तक चला। परन्तु इतने लंबे अरों के बाद यकायक दोनों के स्वप्नों में अंतर आने लगा। दोनों की सुरक्षा, दोनों के सुख भिन्न-भिन्न हो गए। और भिन्न-भिन्न ही नहीं हो गए, एक-दूसरे के विरोधी हो गए। एक का स्वप्न पूरा हो तो दूसरे का खंडित हो। अब देखो। कहा गया वह प्यार—जिसका इतना नाज था दोनों भाइयों को, जिसकी इतनी चर्चा थी लोगो में? दोनों एक-दूसरे के पांवतले की धरती खँचने पर उतारु हो गए। एक-दूसरे को कोहनी मारकर अपने रास्तेसे दूर हटाने पर तुल गए। सारा भाईचारा रफूचककर हो गया। देखते-देखते प्यार दुश्मनी में बदल गया।

समय आने पर ऐसा भाई-भाई में ही नहीं, पति-पत्नी में भी होता है, बाप-बेटे में भी होता है, गुरु-शिष्य में भी होता है, मित्र-मित्र में भी होता है। साधक-साधना में पकता है तो इस सच्चाई को समस्त बुद्धिके साथ स्वीकारता है। नहीं पकता तो व्याकुल ही होता है, व्यथित ही होता है। स्वयं भी व्याकुल-व्यथित होता है। औरों को भी व्याकुल-व्यथित करता है।



राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका ने वह सच्चाई खूब समझी। दूसरे दिन भगवान के दर्शन के लिए जेतवन-विहार में गए तो जो बातचीत परस्पर हुई थी वह भगवान को कह सुनाई। भगवान ने उसके इस कथन का समर्थन किया। सचमुच लोगोंको अपना 'अपनापा' ही प्रिय है। अपना 'मैं' ही प्रिय है।

हमें चाहिए कि हम भी इस सच्चाई को देखें, समझें। जैसे मुझे मेरा 'मैं' प्रिय है, मेरे 'स्वप्न' प्रिय हैं, ठीक वैसे ही औरों को भी तो अपने-अपने 'मैं' प्रिय हैं, अपने-अपने 'स्वप्न' प्रिय हैं। जैसे मेरे 'मैं' के विरुद्ध किसी के द्वारा कुछ भी किया जाना मुझे अप्रिय लगता है, ठीक वैसे ही किसी भी अन्य को अपने 'मैं' के विरुद्ध, अपने 'स्वप्नों' के विरुद्ध कुछ भी किया जाना अप्रिय ही लगता है। साधक अपने जैसा सबको जाने और यों जानकर ही किसी के 'मैं' को आघात न पहुंचाए, किसी के 'स्वप्नों' को चोट न पहुंचाए। किसी को न सताए।

इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुए उस समय भगवान के मुंह से उदान के यह शब्द निकल पड़े—

सत्त्वा दिसा अनुपरिगम् चेतसा

नेवज्ज्ञगा पियतरमत्तना क्वचि।

एवं पिया पुथु अत्ता परेसं

तस्मा न हिंसे परमत्त कामो ॥

—चित्त को सभी ओर दौड़ा कर देखें ... अपने से प्यारा कोई नहीं दीखता। जो बात आपने बारे में सच है, वही औरों के बारे में सच है। औरों को भी अपने आपसे प्यारा कोई नहीं दीखता। इसलिए अपनी भलाई चाहने वालेको चाहिए कि किसी दूसरेको न सताए।

आओ! भगवान की इस उदान-वाणीको हृदयंगम करें। किसी को न सताएं! किसीको न सताएं! किसीको न सताएं! इसी में हमारा सही कल्याण है।

कल्याणमित्र

स. ना. गो.

साधकों के उद्गार

बम्बई का साधक पांडुरंग गमरे लिखता है, "मैं आपके इगतपुरी कैम्प में दो बार साधना कर चुका हूं। बीच में अभ्यासकी निरंतरता टूट गई थी परन्तु इस भूल को सुधारने का प्रयत्न किया और अन्ततः किसी हद तक सफल हो सका हूं। सचमुच इस साधनासे मुझे बहुत लाभ हुआ है। प्रकृति, (स्वभाव) में भी फरक हो गया है। मन में शांति आयी है। ... आपका ऋणी हूं।



चम्बा (हि. प्र.) के साधक मनमोहनसिंह वकीलने लिखा है, "मैं दो बार विपश्यना शिविरों में भाग ले चुका हूं। ... विपश्यना मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी है। संवेदनाएं स्थूल से सूक्ष्म की ओर अनुभूति के स्तर पर आनी शुरू हो गई हैं। साधना के समय विचारों का तांता भी कम पड़ने लगा है। ... सुबह की साधना के समय सामान्यतया नींद का आभास होता है। छुटकारे के लिए प्रयत्नशील हूं। शाम की बैठक काफी संतोषजनक रहती है! ..."



भारत सरकार के अवकाश प्राप्त उप-सचिव दिल्ली-निवासी श्री सुरेन्द्रनाथ कौल, जो कि पिछले वर्ष हैदराबाद और इगतपुरी के शिविरों सम्मिलित हुए हैं, लिखते हैं, "यात्रा के दिनों को छोड़कर अन्य दिनों में नियमित विपश्यना साधना करता हूं। इससे मेरे चित्त को शांत होने में सहायता मिलती है और संकट की स्थितियों को स्वीकार करने की क्षमता बढ़ती है, जिससे कि उनकी वजह से लंबे असें तक विचलित नहीं रहता।"



दिल्ली के व्यापारी श्री मदनलाल जैन जो १९७१ के डलहौजी के शिविर में सम्मिलित हुए थे और अब तक ४ शिविरों में बैठ चुके हैं, लिखते हैं, "मैं लगभग हर रोज केवल प्रातःकाल साधना का अभ्यास करता हूं। इससे मेरे तनावों में कमी आयी है। मुझे मानसिक शांति हासिल हुई और मेरे जीवन व्यवहार में सुधार हुआ है।"



शुभागमन

गुरुदेव गोइन्काजी की धम्ममाता 'मां सयामा' बर्मा से लन्दन जाते हुए भारत रुकी हैं। साधकों के लाभार्थ इस महीने के अन्त तक धम्मगिरी पर ही ठहरेंगी। °

इगतपुरी में स्वयं-शिविर

क्रमांक	२५	दि.	२९-१०-७८	से	८-११-७८	"
"	२६	"	८-११-७८	से	१८-११-७८	"
"	२७	"	३०-११-७८	से	११-१२-७८	"

संपर्क : व्यवस्थापक, विपश्यना विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरी, इगतपुरी-४२२४०३. (नासिक-महाराष्ट्र) फोन नं. ७६.

नोट १) स्वयं-शिविर में केवल वे पुराने साधक ही सम्मिलित हो सकेंगे जो कि विद्यापीठ की अनुशासन-संहिता का आत्मविश्वास के साथ कड़ाई से पालन कर सकें।

२) कोई साधक यदि पूरे शिविर में सम्मिलित न हो सके तो वह अपनी सुविधानुसार बीच में कम दिनों के लिए भी सम्मिलित हो सकता है।

३) प्रत्येक अवस्था में आवश्यक है कि व्यवस्थापक से अपना स्थान सुरक्षित रखने की पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर लें।

४) यथासंभव प्रत्येक शनिवार-रविवार को पूज्य गुरुजी 'धम्मगिरी' पर उपस्थित रहेंगे। अतः जिस साधक को कोई विशेष कठिनाई हो, उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

५) स्वयं-शिविर में अन्य सभी सुविधाएँ उपलब्ध रहेंगी।

आगामी शिविर

शिविर क्रमांक	१५३
”	१५४
”	१५५

दि. १८-१०-७८ से २९-१०-७८ तक (अंग्रेजी)
दि. १८-११-७८ से २९-११-७८ तक (हिन्दी)
दि. १४-१२-७८ से २५-१२-७८ तक (अंग्रेजी)

संपर्क : व्यवस्थापक, विपश्यना विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३ (नासिक-महाराष्ट्र) फोन नं. ७६.

नोट :- १) कृपया साधना शिविर में शामिल होने से पूर्व शिविर-व्यवस्थापक के पास अपना नाम रजिस्टर करा लें । किसी कारणवश शिविर में सम्मिलित न हो सकते हों तो कृपया पर्याप्त समय रहते सूचित करें ताकि किसी अन्य प्रत्याशी को स्वीकृति दी जा सके ।

२) अंग्रेजी शिविर में हिन्दी प्रवचन सुनने के लिए हिन्दी टेब की सुविधा उपलब्ध रहेगी ।

३) शिविरों के नियम कड़े होते हैं । उनका कड़ाई से पालन कर सकें तो ही भाग लेना चाहिए ।

एक शुभेच्छुक

की मंगल कामनाओं सहित ।

दोहे धरम के

“मैं” “मेरे ही स्वप्न” प्रिय, और नहीं प्रिय कोय ।
स्वप्न सहायक प्रिय लगे, बाधक अप्रिय होय ॥
मीठे मीठे स्वप्न के, मीठे मीठे तार ।
जो बुननें में मदद दे, उस पर उमड़ें प्यार ॥
न कोई से प्रीत है, न कोई से बैर ।
मनचाही से प्रीत है, अनचाही से बैर ॥
मनचाही जो भी करे, स्वजन सनेही सोय ।
ज्योंही अनचाही करे, त्यों वह कडुआ होय ॥
तेरे मेरे स्वप्न का, जब तक एक बहाव ।
तब तक तुझको देखकर, चढ़ा चित्त में चाव ॥
तेरे मेरे स्वप्न की, विमुख हुई जब धार ।
बैरी सा लगने लगा, हुआ चित्त का भार ॥

दूहा धरम रा

मनचाही बोलै कैर, तो लागै ज्यूं खांड ।
अनचाही बोलै कैर, तो ज्यूं बिस को मांड ॥
जो बरसां प्यारो लग्यो, खारो लागै आज ।
खारा प्यारा स्वप्न निज, यो कुदरत को राज ॥
बो प्यारो प्यारो लगै, सुपन सहायक जोय ।
बो खारो खारो लगै, सुपन विरोधी जोय ॥
सुपणां को ही प्यार है, सुपणां को ही बैर ।
सुपण सहायक प्रिय लगै, बाधक खारो झैर ॥
सुपणां सहलातो र वै, उमड़े हिवड़े प्यार ।
बो ही जद बाधक बौण, जगै दूवेस को ज्वार ॥
जीवन भर अपणो लग्यो, प्यार भरयो भरपूर ।
ज्यूं सुपणां हूया बिमुख, हूग्यो प्यार कपूर ॥

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट के लिए संपादक, मुद्रक एवं प्रकाशक : रामप्रताप यादव, ग्रीन हाऊस, २ री मंजिल, ग्रीन स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई २३. टेलीफोन : २६८६७९. • मुद्रण स्थान : अक्षरचित्र मुद्रणालय, सातपुर, नासिक ४२२ ००७. टेलिफोन ८२५१ •

पत्रिका में विज्ञापन दर : आधा पृष्ठ रू. ४००/-, चौथाई पृष्ठ रू. २००/- • वार्षिक शुल्क रू. ५/-, आजीवन शुल्क रू. ५१/-

“विपश्यना”

पो. रजि. नं. NSK/64

प्रेषक :

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२ ४०३.
(नासिक - महाराष्ट्र)

To